हृदय की कलम से : हृदय वेग से उपजी रचनाएँ (HINDI EDITION)

हृदय की कलम से

हृदय वेग से उपजी रचनाएँ

डॉ० अनिल चड्डा

I

(1)

"भिज्ञ-अनभिज्ञ"

कौन हूं? क्या हूं ?? कुछ ज्ञात नहीं
अज्ञात नाम ??? शायद अपना नहीं

जोड दिया गया है मेरे साथ
कहीं से उठा कर या फ़िर चुरा कर

अनजाना अस्तित्व,वस्तुत:स्थापना नहीं
पर पाऊं कहां स्वत्व अपना -
खोजता फिरता हूं यहां,वहां,जहां,तहां!

लगता है कहां - कहां से बीत जायेगा जीवन
आजीवन खोजता ही रहूंगा अस्तित्व अपना
बोध होगा अपनत्व मेरी रिक्ति का
दुनिया को जब, तब मैं न होऊंगा
होगा मेरा अस्तित्व -
पर मैं अनभिज्ञ ही रहूंगा!!

(2)

“रिश्तों में उल्हास!”

हम जो हैं
सो हैं
तुम जो हो
सो हो
फिर रिश्तों में
क्यों खटास हो
कभी तो सोचो
ग़र
नहीं समझ पाते हो
तो अपनी कमी ही
दर्शाते हो
क्योंकि
स्वयँ को
समझ लेना ही तो

बुद्धिमानी नहीं
अपनी कमी को
छुपाना ही तो
चतुराई नहीं
रिश्तों में
बुद्धिमानी और चतुराई
न केवल
अपनी कमियाँ ढ़ाँपने में है
दूसरों की कमियों को भी
ढ़ाँपने एवँ
दरनिकार करने में है

तभी तो
इक-दूजे में विश्वास
बना पायेंगें
और रिश्तों में उल्हास
आ पायेगा
और
हम आ पायेंगें
और पास-पास

(3)

"छोड़ो ये बदगुमानी!"

तुमने तो जो ख़ता की,
सरेआम की,
हमने तो फिर भी लाज की,
तेरे नाम की !

तुम अपनी बात कह कर,
मेरी भी बात सुनते,
न मुझको रोना पड़ता,
न तुम भी ऐसे रोते,
नहीं होती जगहँसाई,
किसी बात की !

हर शख्स का है होता,
अपने ही दिल का तूफाँ,
कोई यूँ ही रोक लेता,
कोई बाँध तोड़ देता,
इस बात को समझ,
है बात काम की !

जीना तो सबको जीना,
और एक दिन है मरना,
फिर संग अपने बोलो,
क्यों अहँ लेके चलना,
चलो साथ-साथ मिलके,
छोड़ो ये बदगुमानी !

(4)

“शीशे सा था वतन मेरा!”

शीशे सा था वतन मेरा, किसने है चकनाचूर किया,
स्वार्थ में अंधा हो कर के, भाई भाई से दूर किया ।

निर्मल से दर्पण में था दिखता, चेहरों पर भारत का नूर,
हर टुकड़े में है अब बसता , बस अपनी ‘मैं’ का ही सुरूर,
देश पे मरने वालों ने ही, देश को है कमजोर किया ।

अपनों को अपने घर से ही अब बेघर करते फिरते हैं,
अपनों पे अंगुली उठाने को ही अच्छी बात समझते हैं,
कड़वी बात को कहने को तुमने ही तो मजबूर किया ।

एक से इंसा, एक से रिश्ते, भाषा अलग-अलग अपनी,
सीखो देना तो है मिलता, न हाँको बस अपनी-अपनी,
दिल को थोड़ा बड़ा करो, भगवान ने है भरपूर दिया ।

(5)

"सारा शहर वीराँ हो गया!"

तान के चादर सोये रहे वो,
सारा शहर वीराँ हो गया ।

रश्क हमसे करते रहे वो,
अपना तो सारा जहाँ हो गया ।

उन्हे फुरसत न थी हमारे लिये,
हाल उनपे कैसे बयाँ हो गया ।

रफ्ता-रफ्ता कटे मुश्किल रस्ते,
फिर से काँटों का समाँ हो गया ।

वो तो जैसे थे वैसे ही रहे,
मैं जाने क्या से क्या हो गया ।

(6)

“प्रेम की परिभाषा तो न झुठलाओ!”

तुम्हे
मुझसे प्रेम है
या
मेरे स्वभाव से
इतना तो
तय कर लिया होता
प्रेम की
परिभाषा तो
अपने आप में ही
सम्पूर्ण है
इसलिये प्रेम
टुकड़ों में नहीं होता
इतना तो
समझ लिया होता

इसीलिये तो
कहता हूँ
कि
पहले मन का
ये संशय तो
दूर कर लो
कि
तुम्हे
मुझसे प्रेम है
या
मेरी बुराईयों से
परहेज है
तुम्हे ग़र
मेरी बुराईयों से
गुरेज़ है
तो
ये तो बता दो
इन्हे मैं कहाँ छोड़ूँ

कैसे मैं
अपने अंतस से ही
नाता तोड़ूँ
यदि
मुझे अपनाना है
तो
सम्पूर्ण अपनाओ
पर
प्रेम की परिभाषा
तो न झुठलाओ
न खुद बहको
न मुझको बहकाओ

(7)

"एक नया वज़ूद रचें!"

ग़र हम
किसी के नहीं
तो स्वयँ
अपने भी तो नहीं
किसी को
कुछ देने से
हम लेने का
अधिकार भी
स्वयँमेव ही
पा जाते हैं
इसीलिये तो
प्यार से
प्यार का बढ़ना
और
नफरत से
नफरत का बढ़ना
हो जाता है

अतएव
किसी का
न हो पाना
किसी को
प्यार न कर पाना
अपने वज़ूद को ही तो
नकारना है
तभी तो कहता हूँ
कि
ग़र मिटना ही है
तो क्यों न
किसी और के लिये मिटें
क्यों न
किसी और के बनें
और
अपने वज़ूद को
किसी और के
वज़ूद में
समाहित कर
एक नया
वज़ूद रचें !

(8)

"मज़हब है हिन्दुस्तानी!"

मज़हबी बात न कर नादान,
वतन की फिक्र कर नादान ।

तिनके-तिनके से बसता है घर,
घर को बरबाद न कर नादान ।

एक ही खुदा के इंसां हैं सभी,
कुछ खुदा की कद्र कर नादान ।

बाद मरने के कितनी चाहिये ज़मीं,
ज्यादा लालच न कर नादान ।

घर हिंन्दुस्तान, मज़हब है हिन्दुस्तानी,
इस बात से तो न मुकर नादान ।

(9)

"मेरा अंतस मुझे जान गया!"

मैं मुझको पहचान न पाया,
अंतस मेरा मुझे जान गया,
खुद को देना धोखा मुशिकल,
बरबस ही मन ये मान गया ।

पग-पग पर मिल जाये यहाँ पर,
झूठों के अंबार नये,
दुश्मन तो दुश्मन ही ठहरा,
अपने अपनों को मार रहे,
कौन किसी पर करे भरोसा,
सोच के मन परेशान हुआ ।

आग लगी चहुँ ओर स्वार्थ की,
हर शख्स यहाँ हैवान बना,
जीवन में अंधी दौड़ में पड़ के,
इंसा भी शैतान बना,
व्यापार बना है धर्म औ' शिक्षा,
पैसा ही भगवान हुआ।

(10)

"पहचान!"

ऐ प्रभु
मैंने लाख
कोशिश कर ली
कि
कोई तो
तेरे दिये हुए
इस
नश्वर शरीर को चाहे
कोई तो
प्रकृति-प्रदत्त
मेरी
अच्छाइओं को सराहे
पर
लगता है
तेरे संसार में
नास्तिकों की तादाद
इतनी बढ़ गई है

कि
तेरी कुदरत को
सराहने वालों की
कमी पड़ गई है
पर
मैं फिर भी
इसी कोशिश में
लगा हूँ
कि
मेरे भीतर के
भगवान को
मेरे अंदर
तेरी पहचान को
कोई तो
पहचान पाये
कोई तो
पहचान पाये

(11)

“मेरी खुशी!”

मैं खुश हूँ
तुमने मुझको
मेरी कमियों से
अवगत तो कराया
मुझे
मुझसे ही
परिचित तो कराया
तुम्हारा तात्पर्य तो
कुछ और ही था
पर अनजाने ही
तुमने मुझे
इक रास्ता तो दिखाया
कि
मै स्वयँ को
स्वयँ से

कैसे जीत पाऊँ
अपने
अंदर-बाहर को
कैसे रीत पाऊँ
ये सब
मुझे
तुम्हारी बात से ही तो
समझ में आया
पर
तुम्हारी उस पंगु सोच का
क्या करूँ
जो तुम्हे
केवल मेरी
कमियों के बारे में ही
बताती है
और
तुम्हे अपने बारे में
कुछ नहीं जताती है
मैं तो
विजय पा ही लूँगा
किसी तरह

स्वयँ पर
पर तुम
खड़े ही रहोगे
जिंदगी के इस मोड़ पर
इसी मोड़ पर !

(12)

"कुछ तुम भूलो, कुछ वो भूलें"

गुज़री बातों को याद करो तो क्या मिलना है,
हर रोज ही तो इक बात नई से जी जलना है ।

कितने छाले फोड़ो गे, दिल कितना छोड़ो गे,
खुशियों की सौगात को तुम कितना मोड़ो गे,
जीने को हालात के संग ही तो चलना है ।

कुछ तुम भूलो, कुछ वो भूलें तो बात बनेगी,
ग़र थाम लो उसका हाथ, सुलभ हर राह कटेगी,
वर्ना ठोकर लगने से मुश्किल होगा संभलना ।

(13)

“दौड़ है अँधी जीवन की!”

जीवन तो चलता ही जाये, ज्यों उड़ जायें आ काले बादल,
कौन है जाने कल क्या होगा, सोच के तू क्यों है पागल ।

कौन मिलेगा इन राहों में, सब कुछ पहले से तय है,
जीवन की मुश्किल राहों को, करना फिर भी तो तय है,
करते जाओ कर्म को अपने, हँस के करो या रो के करो,
सोच-सोच के फल की बाबत, आगे बढ़ने से न डरो,
सामना करने को दुनिया का, खोल ले तू मन की साँकल ।

इस झूठी दुनिया में मुश्किल सच्चे लोगों का मिलना,
छोड़ो दुनिया के लोगों की, तुम तो सच्चे ही रहना,
बात पते की कहता हूँ मैं, सुनना चाहे न सुनना,
दौड़ है अँधी जीवन की, पर खाली हाथ ही तो मरना,
तृष्णा के पीछे लग कर न बन जाना तू यूँ ही जाहिल ।

(14)

“फिर से जी जाता हूँ मैं!”

ढंग से जीने के लिये
अनगिनित मौत मरा हूँ मैं
फिर भी
ढंग से जी नहीं पाया हूँ मैं
ज़ख्मों को खुरचते-खुरचते
दर्द सहने की
आदत सी पड़ चुकी है
फिर भी
ज़ख्म भूल नहीं पाया हूँ मैं
कौन जाने
कब कोई किस वक्त
एक और नया ज़ख्म दे जाये
और मैं फिर से
तड़प उठूँ अंदर तक
हाँ, इतना अवश्य है कि
नया ज़ख्म पुराने ज़ख्म को
भुला जाता है

पर एक नया दर्द दे जाता है
और उस दर्द को सहने में
फिर से नई कोशिश में
लग जाता हूँ मैं
और यूँ ही
इक और मौत मर के
फिर से जी जाता हूँ मैं
इक और मौत मरने को!

(15)

"गीत" –

"कोई मन का मीत मिले"

कोई मन का मीत मिले तो मैं मन की बातें बोलूँ,
जब अपना ही अपना नहीं तो दिल को कैसे खोलूँ ।

ये खेल समझ नहीं आता,
ऐ तेरा भाग्य-विधाता,
जो करना मैं न चाहूँ,
अनजाने क्यों है कराता,
ग़र दोष समझ में आये, निज-प्रायश्चित थोड़ा रो लूँ ।

मैं तेरा, राह भी तेरी,
फिर कैसे राह मैं भटका,
यह जीवन-रुपी धागा,
तेरी अँगुली में है अटका,
विश्राम मैं थोड़ा पा लूँ, तुम चाहो तो मैं सो लूँ ।

चाहे दीप हो, चाहे बाती,
माटी है, बन जाये माटी,
फिर "मैं" आकार क्यों लेता,
यह बात समझ नहीं आती,
कुछ समझ मेरे जो आये, तो मन का मैल मैं धो लूँ ।

(16)

"चलता चल तो राह मिलेगी!"

कौन हुआ है दर्द का सम्बल,
कौन हुआ है तेरा अपना,
सब सहलायें छाले अपने,
गौण हुई दूजे की पीड़ा ।

रोना है तो खोना है सब,
दर्द तुझी को होना है सब,
ग़म को पी ले मान के अमृत,
ठौर है इसका और कहाँ ।

नहीं राह पर काँटें मिलेंगें,
सोच, अगर हम नहीं चलेंगें,
जीवन में तो हारेंगें ही,
मंजिल भी हमको मिले कहाँ ।

चल उठ फिर खा कर ठोकर,
छोड़ न रस्ता हिम्मत खोकर,
चलता चल तो राह मिलेगी,
सोच में तू बेकार पड़ा ।

(17)

"कैसे करुँ मैं शुक्रिया!"

कैसे
शुक्रिया करुँ मैं
उन लोगों का
जिन्हे मैं
न तो
समझ ही पाया
और न ही
झेल पाया
पर
अनजाने ही
उन्होने मुझको
दोस्तों,
दुश्मनों
एवँ
रिश्तेदारों
के रुप में
सही-गल्त में

फर्क करना
है सिखलाया
उन्होने ही तो
मुझे
पग-पग पर
फिर से
ठोकर खाने से
है बचाया
इसलिये
उन लोगों से ज्यादा,
जो हरदम
मेरा
सम्बल बने हैं,
ऐसे ही लोगों का
एहसानमंद
रहूँगा मैं
और
करता रहूँगा
उनका
सौ-सौ बार
शुक्रिया मैं !
शुक्रिया मैं !!

(18)

“समझ नहीं पाता हूँ!”

समझ नहीँ पाता हूँ
किस-किस को
कितनी-कितनी बार
माफ करूँ मैं
या फिर
हर बार ही
हिसाब साफ करूँ मैं
समझ नहीं पाता हूँ
क्या
लोगों की गल्तियाँ
दरनिकार करना
मेरी मज़बूरी है
या फिर
फितरत है मेरी
हो सकता है
गल्ती की

प्रतिक्रिया में
गल्ती करना
सुहाता न हो मुझे
और मैं
अनजाने ही
दूसरों की गल्तियाँ
माफ कर बैठता हूँ
पर
इससे क्या
मैं उसको
बढ़ावा नहीं दे जाता हूँ
और
वो फिर से
एक और गल्ती
कर जाता है
और मैं
फिर से
स्वयँ को
अवश ही पाता हूँ
प्रतिक्रिया करने में

यूँ
ये सब बढ़ता ही जाता है
अब तुम्ही कहो
ऐसे में
मैं क्या करूँ
मूक रह कर
अवशता ही दर्शाऊँ
या फिर
चुपचाप
किनारा ही कर लूँ !
ताकि
बार-बार
ऐसी अवस्था का
सामना न करना पड़े !!

(19)

"हर शख्स को पता है!"

हर शख्स को पता है
कहाँ खता है उसकी
पर मानने को कुछ भी
तैयार वो नहीं है
सौ-सौ दलीलें देता
अपनी ख़ता को ले कर
नहीं जानता है लेकिन
ग़ल्ती को मान लेना
पछताने से है बेहतर
रिश्तों की नींव होती
कुछ दे के, कुछ है लेना
ग़र मेरी तुम सुनो तो
मुझको भी कुछ है सहना
नहीं राजनीति खेलो
अपनों के बीच बंदो
ग़र दे सको किसी को
थोड़ा सा प्यार दे दो

सबका है भाग्य अपना
कोई ऊँचा, कोई नीचा
दौलत है आनी-जानी
नहीं तुमने क्यों ये सीखा
सिर पत्थरों के आगे
झुकते हैं बिन शर्त के
कहीं डर, कहीं है लालच
प्रपंच हैं मतलब के
कहते हैं छुप के बैठा
हर शख्स में ख़ुदा है
भगवान की है नेमत
दुनिया में बस बंदा है
फिर भी जो मारो ठोकर
सबसे बड़ी खता है
पहुँचेगा क्या ख़ुदा तक
ख़ुदा का होके बंदा
जो नाम पे ख़ुदा के
करता है रोज धंधा
दूजे को दोष देना
होता बहुत आसां है

अपनी कमी यहाँ पर
दिखती हमें कहाँ है
अपने कर्म का लेखा
जो खुद ही देख पायें
तो दोष सारे अपने
हम खुद मिटा पायें

(20)

“सच कहने से वो बिगड़ते हैं!”

हम तो सीधी सी बात कहते हैं,
वो तो कुछ और ही समझते हैं ।

जिनको रिश्ता निभाना आता नहीं,
वो बिना बात के अकड़ते हैं ।

शिकवा-गिला कोई करे कैसे,
सच कहने से वो बिगड़ते हैं ।

बात बनती रहे, बिगड़ती रहे,
यूँ ही तो साथ-साथ चलते हैं ।

दर्द का माप नहीं होता कोई,
अपना पैमाना सभी रखते हैं ।

नहीं मुश्किल है ज़ख्म देना कभी,
बड़ी मुश्किल से पर ये भरते हैं ।

(21)

“अपनी-अपनी खुशी!”

तुम्हारी दोगली फितरत का
तो मैं तभी कायल हो गया था
जब तुम वादा करके
अगले ही पल
मुकर गये थे
मैं फिर भी
तुम्हे आज़माता रहा
तुम्हारा हमदम बन
तुम्हारा हर दर्द
सहलाता रहा
सोचता रहा
कभी तो तुम्हारा
ज़मीर जगेगा
कभी तो कोई
तुम्हे भायेगा

जिसे तुम्हारी वफा का
एहसास होगा
पर क्या जानता था
तुम अपनी
फितरत से मजबूर थे
मैं अपनी
आदत से परेशान था
तुम ज़फा करके खुश थे
और मैं
अपनी वफा में खुश
दोनों को
अपनी-अपनी खुशी में
खुश रहना ही अच्छा है!

(22)

“मैं हूँ एक बीता हुआ युग!”

मैं हूँ एक बीता हुआ युग!
किसे चाहिये अब बीता युग!!

सदा रहा मैं ढूंढता,
खो चुके पदचिन्ह यहाँ,
धूल से अटे मिले,
कौने में पड़े 'मूल्य' यहाँ!
मैं हूँ एक बीता हुआ युग!
किसे चाहिये अब बीता युग!!

भिक्षुकों की भाँति मैं,
खड़ा रहा कतार में,
काश! कोई भूल से,
प्रीत दे उधार में!
मैं हूँ एक बीता हुआ युग!
किसे चाहिये अब बीता युग!!

(23)

“मेरी-तुम्हारी व्यथा!”

कल
जब कोई
मेरी कविता पढ़ेगा
तो शायद
हँसेगा !
अपनी अन्तर्व्यथा को
दो शब्दों में
उँडेल कर
कुछ कह देना ही
क्या कविता है?
संसार में क्या
अपनी व्यक्तिगत
व्यथा ही है
किसी और की
व्यथा नहीं है क्या

क्या रात के बाद
दिन नहीं आता है क्या
सूर्य
अंधेरा नहीं
निगल जाता क्या
जैसे
दिन और रात
अंधेरा और रौशनी
एक दूसरे से
जुड़ कर
पर्याय बन चुके हैं

वैसे ही
मेरी व्यथा
तुम्हारी व्यथा से
कहीं न कहीं जुड़ कर
उसकी पर्याय बन चुकी है
केवल समय का
अन्तराल ही
इन्हे जुड़ने नहीं देता
जिस दिन

मेरी व्यथा
तुम्हारी व्यथा से
जुड़ जायेगी
और
पर्याय बन पायेगी
उस दिन
तुम स्वत: ही
इसे
कविता मानोगे
चाहे
ऐसा हो या न हो!

(24)

"मेरा सम्बल!"

मेरे
अकेलेपन ने
यदि
मुझे डसा है
तो
मेरा सम्बल भी तो
बना है
मेरे
अंधकारमय जीवन का
ज्योतिपुंज बना है
वही
जो मुझे
सूर्य का प्रतीक बता
शनै-शनै
मेरे
प्रकाश को

लील रहे थे
मेरे
ज्योतिहीन होते ही
न जाने कहाँ
अनंत गहराईयों में
विलीन हो गये
अब तो कहीं
आशा के सितारे भी
दिखाई नहीं देते हैं
और मैं
भटक रहा हूँ
अंतरिक्ष की
सूनी गहराईयों में
बस अकेला ही
अब
मेरा ये
अकेलापन ही तो
मेरा सम्बल है !

(25)

“आधे-अधूरे रिश्ते!”

आधे-अधूरे रिश्ते
जिये नहीं जाते
जल्दी ही हैं मर जाते
इसलिये
ऐसे रिश्तों को
जीने से क्या फायदा
कोई भी रिश्ता
तभी है निभता
जब उसे निभाने को
कोई हो मरता
किसी को भी
केवल
अच्छाईयों के साथ
तो
स्वीकार नहीं किया जा सकता

उसकी
कमियों को भी तो
साथ में लेना है पड़ता
क्योंकि
इक-दूसरे की
कमियों को
इक-दूसरे की
बुराईयों को
एक साथ
निभा पाना ही तो
रिश्ते की परिभाषा है

साथ रहने की
अभिलाषा है
और
इक-दूसरे को
समझने की
मूक भाषा है!

(26)

"कोई समझा दे!"

कुछ लोगों का
दूसरे को हरदम
झूठा मानना
और
स्वयँ को सच्चा
दूसरे को हरदम
सुखी मानना
और
स्वयँ को दुखी
दूसरे को हरदम
ग़ल्त मानना
और
स्वयँ को सही
ऐसे व्यवहार को
क्या कहें हम
इन्सानी फितरत

या
बनावटी सूरत
बाहर से कुछ
और
अंदर से कुछ
या फिर
हरेक की
अपनी 'मैं'
इन्सानी रिश्तों में
सिर उठाती है
हरदम टकराती है
कदम दर कदम
और
जाती नहीं
जब तक
निकले न दम
बाद मरने के तो
ख़त्म हो जायेगी
'मैं' और 'तुम'
फिर
छोड़ते क्यों नहीं

जहाँ में रहते

'मैं' को

नहीं समझ पाये हैं

अब तक हम

ग़र कोई समझा पाये

तो शायद समझ पायेंगें हम!

(27)

"दिशा"

ऐ
ईसा मसीह
तुमने तो
सलीब से
लटक कर
मुक्ति पा ली थी
और
संसार को
एक दिशा दी थी
मैं तो
सलीब को
अपने काँधे पर
उठाये
भटक रहा हूँ
दिशाहीन

भला किसे
दे पाऊँगा
मैं दिशा
जब भी मैं
कोई ऐसा
प्रयास करता हूँ
तो
एक और कील
ठोंक दी जाती है
मेरे अवश शरीर में
और मैं
फिर से
दिशा भटक जाता हूँ!
बस
भटकता ही जाता हूँ!!

(28)

"वेलेंटाईन क्या प्यार का प्रतीक है?"

प्यार तो
एक अनुभूति है
जो
धड़कनों में
बसती है
इसे केवल
महसूस
किया जाता है
न कि
सरेआम
प्रकट किया जाता है
प्यार
मन का
संबल है
ठहरे समुंदर की
हलचल है
इसमें

भावना की
लहर उठ कर
मन को
हिलोरे दे जाती है
पर
आजकल तो
प्यार को
एक तमाशा
बना दिया गया है
कोई तुम्हे
प्यार करे न करे
उसे इक फूल दे कर
वेलेंटाईन
बना दिया गया है
और
वेलेंटाईन के
संदेश
टीवी, इंटरनेट पर
दे कर
किसी की

इज्जत को ही
निशाना
बना दिया गया है
दस-दस फूल
दस-दस को
बाँट कर
हरेक को
वेलेंटाईन
बना दिया गया है
ग़र किसी से
प्यार है तो
तो है
उसके लिये
वेलेंटाईन का
तमाशा
क्यों
खड़ा करें
प्यार तो हर पल
हर क्षण है
क्यों किसी
खास दिन का

चयन करें
ग़र प्यार है
तो
प्रेमी का
हर दिन ही
तो
वेलेंटाईन है
इसलिये
आओ
भेड़चाल छोड़
अपनी संस्कृति

को ही
याद रखें
और
अपनी वेलेंटाईन
को
दिल में ही
आबाद रखें!

(29)

"दोहे"

आज भावना देश में, बिके कोड़ियों मोल,
द्वेष मिले हर वेश में, चाहे जितना तोल ।

सोच-सोच मर जायेगा, अपना नाही कोय,
पेट भरन को आपना, मार खायेंगें तोय ।

कुआँ प्यासे की सुने, ऐसी नाही रीत,
पानी का भी मोल है, सीख सके तो सीख ।

बीच चौराहे पर खड़ा, सोचूँ कित को जाऊँ,
पकड़ूँ जो भी राह मैं , झूठ से लिपटी पाऊँ ।

जीने की क्या बात है, जैसे चाहे जी,
विष पर भ्रष्टाचार का, मान के अमृत पी ।

(30)

"कितने रावण?"

ऐ रावण,
यदि तुम तक
मेरी आवाज
पहुँच रही हो तो
मेरा एक संशय
दूर कर दो
तुम्हारा तो
राम ने
वध किया था
फिर से
कैसे
जीवित हो जाते हो?

यदि ऐसा नहीं तो
हर वर्ष
तुम्हारा पुन:
वध कर
क्यों जलाया है तुम्हे?
और फिर
कैसे
पुन: जीवित हो उठते हो?
तुम्हारे तो केवल
दस सिर थे!
कहाँ से लाते हो

इतने सिर
जिसे आज का
हर व्यक्ति
उठाए घूम रहा है
अपने कांधे पर
तुम्हे तो
मै फिर भी
मार लूंगा
पर
उनका क्या करूँ

जो
तुम्हारा सिर लगाये
विचर रहे हैं
राम की
वेशभूषा में
यहाँ-वहाँ!
जहाँ-तहाँ!!

(31)

"ये ऋतु वसंत है!"

धरा है आज खिल रही,
ब्यार भी मचल रही,
ये ऋतु वसंत है!
आज फिर वसंत है!!

डाली-डाली प्यार में,
गुफ्तगू है कर रही,
अधखिली कली भी,
खेल भँवरों से है कर रही,
काँटों से गले क्यों आज,
हर कली है मिल रही,
ये ऋतु वसंत है!
आज फिर वसंत है !!

किरण-किरण महक उठी,
बुलबुलें चहक उठीं,

बहार के ख़ुमार से,
जवानियाँ बहक उठीं,
संयम से जो बनाई थी,
वो नींव आज हिल रही,
ये ऋतु वसंत है!
आज फिर वसंत है!!

सब का मन विभोर है,
चारों और शोर है,
पर मेरा है मन बुझा,
न आया चितचोर है,
मुझको जो हँसा सके,
कमी है उसकी खल रही,
ये ऋतु वसंत है!
आज फिर वसंत है!!

(32)

“गीत” –
“बनेंगें रास्ते”

दरमियाँ रहेंगें हम मुसीबतों के तो बनेंगें रास्ते,
जहाँ में कौन आज तक लड़ा किसी के वास्ते ।

चले जा, तू चले जा,
आज वक्त से लड़े जा,
जो सोच में पड़ेगा,
वक्त पीछे छोड़ देगा,

वक्त पीछे छोड़ देगा,
तू न दिल को छोड़ देना,
तू न दिल को छोड़ देना,
चाहे हों कहीं पे हादसे।
दरमियाँ रहेंगें हम मुसीबतों के तो बनेंगें रास्ते,
जहाँ में कौन आज तक लड़ा किसी के वास्ते ।

नहीं हार मानना तू,
न हथियार डालना तू,
राह तब तुझे मिलेगी,
चाह जब तेरी जगेगी,
चाह जब तेरी जगेगी,
पीछे मुड़ के तुम न देखो,
पीछे मुड़ के तुम न देखो,
चाहे तय न हो ये फासले ।
दरमियाँ रहेंगें हम मुसीबतों के तो बनेंगें रास्ते,
जहाँ में कौन आज तक लड़ा किसी के वास्ते ।

(33)

“दोस्तों की दोस्ती”

दोस्तों की दोस्ती तो देख चुके,
दुश्मनों से ज़फा निभायेगें ।

अश्कों ने साथ मेरा छोड़ दिया,
अब तो हँस के ही ग़म उठायेंगें ।

ज़ख्म खाने से तो गुरेज़ नहीं,
मरहम ग़र उस पे वो लगायेंगें ।

लाख रौशन करो अँधेरों को,
दिल मेरा फिर भी वो जलायेंगें ।

सब्र होगा तभी हसीनों को,
जब ज़नाजा मेरा उठायेंगें ।

(34)

"इतना न गिराओ"

ख़ुद को इतना न गिराओ कि कोई उठा न सके,
आग इतनी न लगाओ कि कोई बुझा न सके ।

रफ्ता-रफ्ता करके तो रिश्ता तरश्ता है,
चोट इतनी न लगाओ कि फिर से बना न सकें ।

दर्द तो होती है सुई की नोक से भी,
ज़ख्म ऐसे न बनाओ कि कोई भरा न सके ।

किसी को दोष बिना वजह तुम देते क्यों हो,
बददुआ को तो कोई भी दुआ बना न सके ।

अब तो आदत सी पड़ चुकी है चोट खाने की,
गहरी चोट भी कोई असर दिखा न सके ।

(35)

"आवश्यकता!"

क्यों हमेशा हम
साबित करना चाहते हैं
खुद को
जग के सामने
जो हम हैं
सो हैं
इसे साबित करने को
क्या हमें
कोई तदबीर चाहिये
हाँ
हम तो ये जानते ही हैं
भली-भांति
कि हम
अंदर से क्या
और

बाहर से क्या हैं
पर फिर क्यों
जो हम
वास्तव में हैं
वो नहीं लाना चाहते
दुनिया के सामने
हम तो बस
अपनी अच्छी छवि को ही
पेश करते हैं
दूसरों के सामने
चाहे अंदर से
कुछ भी हों
तो क्या ये
एक अहंतुष्टि है
या फिर
जग को
धोखा देने की कोशिश
तुम तो शायद
जानते ही होगे
पर

आज नही तो कल
तुम्हारी असलियत का
पता लग ही जायेगा
इस जग को
तो कैसे दिखाओगे
अपना मुँह जग को
या फिर
उसे भी
चिकनी-चुपड़ी बातों से
ढाँपने की
कोशिश करोगे

इससे तो
तुम्हारा असली रूप
और जग जाहिर होगा
तो क्यों न
वैसे ही रहो
जैसे तुम हो
और दुनिया को
निर्णय करने दो
कि तुम क्या हो

फिर
आवश्यकता नहीं रहेगी
तुम्हे भी
खुद को
साबित करने की!

(36)

"कैसे निभे?"

रिश्तों में
गरमाहट तो
तभी आयेगी
जब कोई
रिश्तों के लिये जले
कदम से कदम
तभी मिल पायेगें
जब कोई
साथ चले
और
दुनिया में
किसी से
तभी निभेगी
जब हम
एक-दूसरे के

अनुरुप ढलें
जब हम
न तो
रिश्तों में जलें
न ही
एक-दूसरे के
साथ चलें
और
न ही
एक-दूसरे के
अनुरुप ढलें
तो कहो
कोई भी रिश्ता
कैसे चले?

(37)

“सरेआम दोस्ती करो”

सरेआम दोस्ती करो, सरेआम दुश्मनी,
जो कुछ नहीं है मन में तो क्यों नज़र झुकी ।

हर वार पे ज़रूरी तो नहीं है वार कर,
कभी तो वक्त आयेगा वो चूकेगा कहीं ।

तू बार-बार हार के ना हारना ये मन,
कोशिशें करे जा , रंग लायेंगीं कभी ।

पहचान अपने मन को, मन ही तो साथी है,
है स्वार्थी ये दुनिया, तेरा कोई नहीं ।

हर रास्ते को दुनिया तो बतायेगी ग़ल्त,
ये तेरा फैसला है, तू सही है या नहीं ।

(38)

"कैसे समझें?"

कुछ लोगों का
दूसरे को हरदम
झूठा मानना
और
स्वयँ को सच्चा
दूसरे को हरदम
नीचा मानना
और
स्वयँ को ऊँचा
दूसरे को हरदम
मूर्ख मानना
और
स्वयँ को अक्लमंद

दूसरे को हरदम
सुखी मानना
और
स्वयँ को दुखी
दूसरे को हरदम
ग़ल्त मानना
और
स्वयँ को सही
ऐसे व्यवहार को
क्या कहें हम
इन्सानी फितरत
या
बनावटी सूरत
बाहर से कुछ
और
अंदर से कुछ
या फिर
हरेक की
अपनी 'मैं'
इन्सानी रिश्तों में

सिर
उठाती है हरदम
टकराती है
कदम दर कदम
और
जाती नहीं
जब तक
निकले न दम
बाद मरने के
तो
ख़त्म हो जायेगी
'मैं' और 'तुम'

फिर
छोड़ते क्यों नहीं
जहाँ में रहते
'मैं' को हम
नहीं समझ पाये हैं
अब तक हम
ग़र कोई
समझा पाये
तो शायद
समझ पायेंगें हम!

(39)

“अपनी खुशी!”

अपनी खुशी
ढूँढने
निकला था
जग में मैं
पर चहूँ और
दिखाई दिया
दुख ही दुख
कोई
भूख से दुखी
तो कोई
न खा सकने से दुखी
कोई
गरीबी से बेहाल
तो कोई
पैसा नहीं
सकता संभाल
कोई

किसी को
पाने की चाह में
कोई
किसी को पा कर
खोने की राह में
तो फिर
खुशी है कहाँ
ग़र दुखी है
सारा ही जहाँ
सोच में
पड़ गया मैं
पर
सोचने की
क्या ज़रुरत थी
जिस खुशी के लिये
भागता रहा
ता-ज़िंदगी
इधर-उधर
वो तो
अपने ही

भीतर थी बसी

बस उसे

थोड़ा सा

टटोलने की

थोड़ा सा

कुरेदने की

ज़रूरत थी !

(40)

"बुरा मत मानना!"

अगर मैं
ये कहूँ
कि मैं
किसी का
दोस्त नहीं
तो
बुरा मत मानना
उम्र के
इस पड़ाव पर
पहुँच कर
मुझे
ऐसा बनना ही पड़ा
ज़िंदगी के
टेढ़े-मेढ़े
ऊबड़-खाबड़
रास्तों ने

जो मुझे
सिखाया है
उससे शायद
यही
निचोड़ निकला है
कि
आज़ की दुनिया में
कोई किसी का नहीं
दोस्त होना तो
अलग बात है
इसलिये

मैंने भी
अपने बारे में ही
सोचना
शुरु कर दिया
अपनी ही
अपनी भावनाओं की
कद्र करने लग गया
नतीज़तन
मैं

अपने सिवा
किसी का
नहीं रहा
इसलिये किसी का
दोस्त भी
नहीं रहा
पर
इसके लिये तो
तुम
खुद जिम्मेदार हो
फिर मुझे दोष
क्यों देते हो!

(41)

"सम्पूर्णता!"

दुनिया में
कोई भी तो
सम्पूर्ण नहीं है
यदि ऐसा होता
तो दुनिया से
अधर्म न मिट जाता
कोई भी
कभी कोई
गल्ती न करता
मैं भी तो
सम्पूर्ण नहीं हूँ
इसलिये शायद
अपनी बात
सही तरीके से
न कह पाऊँ
पर कोई भी तो
सम्पूर्ण नहीं है

हरेक में
कोई न कोई
कमी तो है
किसी में
ज्यादा अच्छाईयाँ हैं
किसी में
ज्यादा बुराईयाँ
पर दोनों में
तालमेल तो
बिठाना ही पड़ता है
नहीं तो
दुनिया में
रहना दूभर हो जाता है
किसी ने
सही ही तो कहा है
कि
दूसरे की
कमी देखने से पहले
अपनी कमी भी देखो
यदि तुम

किसी की कमी को
अनदेखा नहीं करते
तो तुम्हारी कमी
कोई क्यों सहन करेगा
इक-दूजे के साथ
चलने के लिये
इक-दूजे को
सहन तो करना ही पड़ेगा
इक-दूजे को
सहारा तो देना ही पड़ेगा

तभी तो कोई
रिश्ता निभेगा
तभी तो
समाज बनेगा
और
आगे चलेगा
चलता ही रहेगा!

(42)

"बदला!"

मैंने तुमसे
अपने एहसानात का
हिसाब तो नहीं माँगा था
फिर क्यों
नज़रें चुराते
फिर रहे हो मुझसे?
क्या दुनिया का
दस्तूर निभा रहे हो?
दस्तूर -
बेवफाई का
दस्तूर -
काम निकल जाने पर
अंगूठा दिखलाई का
या फिर
औरों की तरह

तुम्हारी भी
ये फितरत ही है
मैंने तो
जो किया
रिश्तों की,
इन्सानियत की
खातिर किया
या फिर
यूं समझो
जो मुझे उचित लगा
वो ही किया
तुम क्यों
बेकार ही
डरने लगे मुझसे
कि शायद
तुम्हे कुछ
लौटाना न पड़ जाये मुझे
समझ नहीं पाया हूँ मैं
तुम
तकलीफ से
डरते हो

या फिर
स्वार्थपरता के
जाल में उलझे हो
कुछ भी हो
कभी न कभी तो
तुम्हे तुम्हारी
कमी का
ख्याल आयेगा ही
ग़र ऐसा हो तो
मुझे मेरे
एहसानात का
बदला स्वयँ ही
मिल जायेगा!
सभी कुछ
स्वयँ ही मिल जायेगा!!

(43)

"गल्तफहमी!"

ज्यादातर कोई
खुश
तभी रह पाता है
जब वो
गल्तफहमी में रहता है
गल्तफहमी
अपने बारे में
कि
लोग क्या सोचते हैं
उसके बारे में
गल्तफहमी
अपने बारे में
कि
वो क्या है
गल्तफहमी
रिश्तों के बारे में

कि
कोई किसी से
प्यार करता है
या
किसी पर मरता है
गल्तफहमी
किसी की
इमानदारी की
किसी की
वफादारी की
और न जाने
कैसी-कैसी
गल्तफहमियाँ
पाले बैठा है हर कोई
और
उन्ही में
खुश रहता है हर कोई
लेकिन जब
सच्चाई का
एहसास होता है

तो ज्यादा नहीं तो
थोड़ा तो
दुख होता है
वो अलग बात है
कि खुश रहने को
कोई
कोई और गल्तफहमी
पाल लेता है!

(44)

"साथ चलो!"

कौन बनेगा उनका अपना,
जो बस अपनी बाबत सोचें,
मैं तो खाली मैं ही होती,
हम में तो कितने मैं होते ।

साथ चलोगे दुनिया के,
तो दुनिया तेरे साथ चलेगी,
अकेले चलने वालों के संग,
दुनिया वाले कभी न होते ।

सोच है मेरी सबसे न्यारी,
ग़र सोचे ये दुनिया सारी,
तो जितने हैं रिश्ते-नाते,
तिनके-तिनके बिखरे होते ।

ग़र तुमको ऊपर उठना है,
नीचे भी तो देखो भाई,
चलना मुश्किल हो जाता,
ग़र धरती पे ये पाँव न होते ।

दर्द से दर्द मिला करता है,
खुशियाँ बाँटो खुशियाँ आयें,
फूल नहीं उगते हैं वहाँ पर,
जहाँ पे तुम हो काँटे बोते ।

(45)

"अपनों को गैर तो न मानो!"

प्यार को बंधन तो न मानो,
हँसी को रूदन तो न मानो,
कौन रहेगा वर्ना अपना,
सबको दुश्मन तो न मानो ।

दर्द तो सब के दिल में है,
रहना लेकिन दुनिया में है,
दर्द को बाँटना भी सीखो,
इसे केवल अपना तो न मानो ।

मुश्किलों के दायरे में खड़े हो,
तो शशोपंज में क्यों पड़े हो,
जिंदगी जिंदादिली से जियो,
जिंदगी से हार तो न मानो ।

कदम बढ़ाओ तो रास्ता तय होगा,
बात करो तो मामला तय होगा,
यूँ ही चुपचाप रह करके,
खुद को ही सही तो न मानो ।

खुद ही सवाल उठा करके,
खुद ही जवाब दे लेते हो,
अपने सवालो और जवाबों को,
अपनी दुनिया तो न मानो ।

पथिक और भी राहों में,
चल रहे अकेले हैं,
अकेले चलते रह करके,
सफर को तय तो न मानो ।

तुम्हारी दुनिया माना कि,
ज़ुदा है सारी दुनिया से,
पर रह करके अलग सबसे,
अपनों को ग़ैर तो न मानो ।

(46)

"ये कैसा संसार!"

दो अलग-अलग
राहों पर
चलते राही
मिल कर
एक हो जाते हैं
और बन जाते हैं
एक राह के राही
बिना कोई पूर्व रिश्ते के
जब दो इंसा
एक बंधन में
बंध जाते हैं
तो कोई तो आधार
होगा ही
कहीं तो
प्यार होगा ही

पर
दूसरी और
एक राह पर
चलते राही
अलग-अलग राहों पर
चल निकलते हैं
और
जन्म ले साथ-साथ
बचपन-जवानी
काटे साथ-साथ
कभी-कभी
बन जाते हैं
इक-दूसरे के
खून के प्यासे
इसका कोई आधार है क्या?
कभी सोचा है क्या?
आधार तो
दोनों स्थितियों का है
एक का आधार
है प्यार

इक-दूसरे की
कमियों को
करना स्वीकार
और
जीवन तक
कर देना न्यौछावर
दूसरे का आधार
है दुराचार
अनाचार
और
ऐसा व्यवहार
जो दर्शाता हो
कुत्सित विचार
या फिर
जब रिश्तों का
लालच हो आधार
इंसा वही
रिश्ता वही
फिर भी
अलग-अलग

जब हो व्यवहार

तो

फिर सोचने को

मजबूर होना ही पड़ता है

कि

ये कैसा संसार!

(47)

“अपनी राह चलो!”

लोग
तुम्हे क्या समझते हैं
वो
इतना महत्वपूर्ण नही
जितना महत्वपूर्ण ये है
कि
तुम खुद को
क्या समझते हो
नहीं तो
तुम अपना
अस्तित्व भी
खो दोगे
और जो तुम हो
वो भी
नहीं रहोगे
जो तुम
बनना चाहते हो

बन नहीं पाओगे
जो तुम
कहना चाहते हो
कह नहीं पाओगे
करना चाहते हो
कर नहीं पाओगे
इसलिये
अपनी मंजिल पाने को
अपनी राह
चलते रहो
रस्ते खुद-ब-खुद
तुम्हारे साथ चलेंगें
लोग खुद-ब-खुद
तुम्हारी बात सुनेंगें
और
तुम्हारी बात करेंगें
और फिर स्वयँ ही
तुम्हारे पीछे चलेंगें!

(48)

“आज का इन्सान!”

आज का इंसान
बड़ा ही विचित्र है
यूँ तो
किसी का दुश्मन नहीं
पर न ही
किसी का मित्र है
उसके मन में तो
बस
एक ही चित्र है
कैसे
अपने सामने वाले को
अपने से
छोटा साबित करूँ
कैसे उसको हराऊँ
यदि ऐसा हो तो

शायद मैं उसका
स्थान पा जाऊँ
पर
क्या ये आवश्यक है
कि खुद को
बड़ा साबित करने को
दूसरे को छोटा कहें
खुद को
धनवान करने के लिये
दूसरे को निर्धन करें
खुद की बुराई ढाँपने को
दूसरे की अच्छाई को
बुरा कहें
वो
यह भूल जाता है कि
समाज में
छोटे-बड़े
अच्छे-बुरे का मापदंड
केवल उसे ही नहीं
तय करना है

इससे वो
अपनी हीनभावना ही
जगजाहिर करता है
अच्छा हो कि
खुद को
दूसरे से
ऊँचा साबित करने को
अच्छा बनने को
वो अपने रास्ते
खुद बनाये
न कि
दूसरे के रास्ते में
काँटें बिछाये
और अपनी मंजिल पर
खुद पहँच जाये
तब
उसकी ऊँचाई
उसकी अच्छाई
सब को
खुद ही दिखाई देगी

तब उसे
खुद को
दुनिया पर साबित करने की
आवश्यकता नहीं होगी
दुनिया खुद ही
उसके पीछे होगी !

(49)

“प्रवृति!”

यह
कल शाम ही की बात है
जब
शमशान के पास से
गुजरते हुए
एक बार फिर
आकाश को
तपते हुए देखा मैंने!
कुछ लोग
हाथ बाँधे
मौन खड़े थे
शायद
ठिठुरते मौसम में
बुझते दिए की
अंतिम लौ से भी
तपिश लेने की

कोशिश में!
और कुछ
(जो शायद अपने थे)
लाल आँखें लिये
दूर बैठे थे
झुलस रहे थे वो
ठंडी हो रही
आग से भी!
और
कोने का बूढ़ा बरगद
निर्विकार सा खड़ा था
सदियों से
बार-बार
दोहराई जा रही
इन्सान की
दोगली प्रवृति का
मूक दर्शक!

(50)

“कमी!”

कोई ग़र
जमाने से
झूठ बोले
तो
बात समझ में आती है
कोई ग़र
खुद से
झूठ बोले
तो
बात समझ नहीं आती है
क्या
खुद को खुद से
छुपाना कभी संभव है?
यह असंभव ही नहीं

बल्कि नामुमकिन है
फिर जाने क्यों
लोग
ऐसा करते हैं
और
खुद को
मुगालते में
रखते हैं
जब कि
वो यह नहीं जानते हैं
कि

जिस बात को
वो स्वयँ से
छुपा रहे हैं
शायद
जमाने ने
उसे भांप लिया हो
और
उसकी इस कमजोरी का
फायदा भी

उठा लिया हो
इसलिये ये
निहायत ज़रुरी है
कि
अपनी कमी
न केवल
अपने से न छुपाओ
बल्कि
जमाने से भी न छुपाओ
शायद कोई तुम्हे
सही रास्ता दिखा जाये
और तुम
अपनी कमी पर
विजय पा जाओ!

(51)

"आगे ही बढ़ना है!"

अस्त-व्यस्त से ख्यालों को
कैसे व्यवस्थित करूँ
समझ नहीं पाऊँ
हर तरफ मची है
आपा-धापी
चहूँ और व्याप्त है
अनचाहा शोर
कोई किसी को
लूटने में व्यस्त है
कोई बना है
शातिर चोर
क्या समाज की
यही तस्वीर
थी हमने देखी
समझ नहीं पाऊँ
फिर भी
सोचता हूँ

इस अफरा-तफरी में
कुछ तो कर जाऊँ
कुछ तो कह जाऊँ
जिससे
कोई तो सोचे
सही क्या है
और ग़ल्त क्या है
इस सब भाग-दौड़ का
मतलब क्या है
हम क्यों यूँ ही
इक-दूसरे की जड़ें

काटने में लगे हुए हैं
यदि यूँ ही
चलता रहा
तो
कल हम
कहाँ पहुँचेंगें
क्या सोचा है
किसी ने
दो कदम आगे

और
चार कदम पीछे
जहाँ से चले थे
कल वहीं पर
खुद को
खड़े पायेंगें
तो फिर से
सोच लो
क्या पाना है
तुम्हारी क्या
चाहना है
अगर आगे बढ़ना है
तो
दूसरे को भी
आगे बढ़ाना है
इसी को कह पायेंगें
इसी से कर पायेंगें
हम प्रगति
आगे ही बढ़ाना है!
और
आगे ही बढ़ना है!

(52)

"मन हरदम यही कहता है"

मन हरदम यही कहता है, कुछ ऐसा हो, कुछ वैसा हो,
लेकिन फिर सोचने लगता है, जाने जीवन में कैसा हो ।

जो होता है, सो होता है, काहे तू चैन को खोता है,
हर छोटी-छोटी बात पे पगले, काहे बैठ के रोता है ।

दो पग चल कर के देख जरा, रस्ते खुद ही आ जायेंगें,
चाहे पहाड़, चाहे नदिया, खुद ही पीछे हट जायेंगें ।

होता गुनाह जी छोड़ना है, इसमें संशय की बात नहीं,
जो सुबह में कभी न ढलती हो, ऐसी कोई भी रात नहीं ।

है कौन किसी का दुनिया में,सब अपने पथ के राही हैं,
यूँ व्यर्थ सोच में पड़ना है, तू अपनी नाँव का माँझी है ।

चंदा तारे न तोड़ सके, तो खुद को छोटा कहना मत,
जो कुछ भी तेरे बस में हो, उससे तू पीछे रहना मत ।

कोई आंधी, तूफां कोई , बस सीना तान के चलना है,
न डरना कभी भी मुश्किल से, बस एक ही बार तो मरना है ।

खुद को दीए की लौ बना, खुद जल के रौशन कर जग को,
कुछ ऐसा करके जग से जा, हरदम तू याद रहे जग को ।

(53)

“आओ एक दीप जलाएँ!”

दीवाली तो
हर वर्ष ही आती है
जब बुराई पर
जीत की
खुशियाँ मनाई जाती हैं
यह पर्व तो
युगों से मनाया जा रहा है
पर क्या
अभी तक कोई
बुराई पर
विजय पा सका है?
बुराई तो
हर पल, हर क्षण
अपना सिर उठाती है
और अच्छाई को
निगल जाती है

बुराई तो
हर रोज दीवाली मनाती है
हमारी दीवाली तो
वर्ष में
बस एक बार ही आती है
तब भी तो
बुराई पुरजोर
अपना सिर उठाती है
अच्छाई की आवाज तो
पटाखों के शोर में ही
दबा जाती है

और किसी को
कहाँ सुनाई देती है
उन बेबस लाचारों की आवाज
जिन की दीवाली
कभी नहीं आती है
उनके अरमानों की होली तो
दीयों की लौ ही
जला जाती है

इसलिये
मुझे ये बात
हज्म नहीं हो पाती है
कि आज की दीवाली
बुराई पर
अच्छाई की जीत है
या
बुराई आज भी
अच्छाई को
मुँह चिढ़ा रही है
मेरी दीवाली तो
तब मनेगी
जब
भूखे-बेबस-लाचारों के
मन की चीत्कार
नहीं दबा पायेगी
कोई ऐसी दीवाली
मेरी दीवाली तो
तब मनेगी
जब हट जायेगी

भ्रष्टाचार एवँ बर्बरता
की बीमारी
इसलिये आओ
हम अपने संकल्प का
एक-एक दीप जलाएँ
दीवाली हो
चाहे न हो
बुराई को
जड़ से मिटाएँ

(54)

"झूठा आवरण!"

तुमने जो
ओढ़ ली है
खामोशियों की चादर
मैं
चुपचाप सा
ठगा सा
रह गया हूँ
तुम्हारे इस मौन को
कहो क्या समझूँ?
आत्मसमर्पण
या पलायन
जीवन के
सहज व्यापार से?
या अब
तुम्हारे हृदय में
कोई तरंग

उठती ही नहीं
या
नहीं होते आलोड़ित
तुम किसी भी विचार से
मान-अभिमान की परिभाषा
अगर तुम समझते
तो
यूं न झूठे आवरण में
जा छुपते
यदि मैंने भी
ओढ़ लिया
अहँ का कवच
तो
मुशिकल हो जायेगा
मेरे लिये ही
उसे भेद पाना
आओ
अपना-अपना आवरण
उतार कर
साथ चलते रहें

शिकायत भी हो तो
करते रहें
और
दो निर्मल नदियों की मानिंद
जीवन सागर में
मिलते रहें!

(55)

“सच्ची तस्वीर!”

मैंने ख्वाबों में
जो तस्वीर देखी
वो आँख खुलते ही
धुंधला गई
मुझे समझ नहीं आई
जो अक्स
मेरा अंतर्मन बनाता है
वो आँख खुलते ही
क्यों टूट जाता है
शायद यही अंतर है
सच और झूठ में
अमल और सोच में
कुछ पाने के लिये
कर्म तो करना ही पड़ता है
केवल ख्वाब लेने से ही
काम नहीं चलता है
इसलिये उठ

कर्मठ हो कर
कर्म कर
मेहनत से न डर
मुश्किल से न डर
बस कर्म ही कर
कर्म ही कर

(56)

"दगाबाज!"

वो चले तो थे
मेरी अंगुली पकड़ कर
बीच राह में
छोड़ गये पर
राह अपनी मिलने पर
दो राहें मिलती हों जहाँ
दो साथी जुड़ें वहाँ
राहें ग़र हों जायें जुदा
तो ये तो जरुरी नहीं
कि साथ चलने वाले भी
हो जायें जुदा
किस्मत ग़र मज़बूर करे
तो वो बात अलग है
खुद-ब-खुद ग़र छोड़े कोई
तो उसका मतलब अलग है
राह पाने की कोशिश में
किसी की

अंगुली पकड़ कर
चल तो पड़े कोई
राह मिलते ही
ग़र छोड़ जाये कोई
तो ऐसे को कोई
क्या नाम दे
वो तो
दगाबाज ही कहाये
फिर
ऐसे को कोई
अपना क्यों बनाये
कहो
अपना क्यों बनाये

(57)

“कोई कितना गिरे!”

किसी के प्यार की खातिर
कोई अपने आप को
कितना गिराये
ये वो ही बताए

हम तो रोता हुआ दिल
उनके पास ले कर गये थे
कि शायद
वो चुप कराएँ
कोई इसको क्या समझे
जब वो हमें और रुलायें

ये तो दुनिया का दस्तूर है अब
सब को अपने दिल की
आवाज ही सुनाई देती है
दूसरों का रोना तो

बनावट दिखाई देती है
तो अपनी बात कहो
कोई किसी को कैसे समझाए

जब अपने पाँव के छाले
हमें खुद ही सहलाने हैं
अपने-अपने रास्ते
हमें खुद ही बनाने हैं
तो क्यों किसी के साथ की
कोई चाहत बनाये
और रोते हुए दिल को
बेकार ही और रुलाए
और रुलाता चला जाये
रुलाता चला जाये

(58)

“टूटी हुई जिंदगी!”

जितनी बार भी
जोड़ना चाहा
इस टूटी हुई जिंदगी को
जिंदगी की लहर के साथ
कोई एक बार फिर
ठोकर मार कर चल दिया
न जाने क्यों
इस दुनिया के लोग
किसी की खुशी देख कर
खुश नहीं होते
क्यों हरेक की राह में
काँटें हैं बोते
बस यहीं से शुरू होती है
भाग-दौड़
और
इक-दूसरे को हराने के लिए
दाँव-पेचों की

तोड़-मरोड़
क्या सोचा है कभी?
क्या इसे ही जिंदगी कहते हैं!
कभी किसी का चैन
कभी किसी की खुशी
छीनने की
लगी रहे हमेशा उधेड़बुन
जिंदगी तो
नाम है जोड़ने का
किसी के दुखों का
रुख मोड़ने का
यहाँ तो जो भी आयेगा
एक दिन तो फनाँ होगा
पर नाम उसी का यहाँ होगा
जो कभी किसी के लिये मिटा होगा!

(59)

“क्यों!”

क्यों
अपनी मैं को
मैं ही
रहने दिया
कभी
सोचा तुमने
ग़र सोचते
तो मैं का अर्थ
समझ पाते
और समझ जाते
जैसे
दो और दो
चार होते हैं
वैसे
मैं और मैं
मिल कर

हम हो जाते हैं

ग़र इतना अर्थ
समझ पाते
तो
एक-दूसरे से
जुड़ पाते
एक-दूसरे के
हो जाते

(60)

"जिंदगी का मर्म!"

आसमान की
ऊँचाईयों को नापना
इतना आसाँ तो न था
फिर भी
मैंने पत्थर उछाल कर देखा
यह अलग बात है
कि
वो मेरे सिर पर ही
आ गिरा!
समुन्दर की गहराईयाँ भी
तो कुछ कम न थीं
फिर भी
उसमें उतरने की
इच्छा कम न हुई
मुझे तो
हरदम

कोशिश ही करते रहना है
चाहे वो
कामयाब हो
या न हो
यही तो
मेरा धर्म है
यही तो
मेरा कर्म है
और
यही तो
जिंदगी का
मर्म है!

(61)

"फर्ज!"

दो कदम चल कर
राह के पत्थरों से
ग़र ठोकर खाई
तो
हार मान बैठे कोई
जिंदगी से
तो बताओ
इसे क्या नाम दें?

दो कदम चल कर
दो पत्थरों को
ठोकर मार कर
खुद को
बहादुर मान बैठे कोई
तो कहो
इसे क्या नाम दें?
जिंदगी का नाम

तो चलते जाना है
न ठोकर खा कर
घबराना है
और
न थोड़ी सी कामयाबी से
सिर उठाना है
इंसा तो वही है
जिसे हर हाल में
इन्सानियत का
फर्ज निभाना है!

(62)

“कद!”

मैं अपने स्थान पर खड़ा हो
अपना कद नापने की
कोशिश में लगा रहा
इस कोशिश में
मैं यह भी न देख पाया
कि मेरे आसपास के लोगों का कद
मेरे से ऊँचा उठता जा रहा है
और मैं शनै: शनै:
बोना होता जा रहा हूँ
शायद मैं अपनी ही नज़र में
खुद को पहचान पाना
भूल गया हूँ
जब नज़र उठा कर देखा
तो मैंने खुद को
अपनी ही नज़र में
बौना पाया

अपना कद जब
दूसरों की मानिंद
छोटा पाया
तो ही
खुद को खुद की नज़र से
पहचान पाया!

(63)

"कल क्या होगा!"

सावन में बरसात न देखी, बिन मौसम गरजें बादल,
कौन है जाने कल क्या होगा, सोच के तू क्यों है पागल।

कौन मिलेगा इन राहों में, सब कुछ पहले से तय है,
जीवन की मुश्किल राहों को, करना फिर भी तो तय है ।

करते जाओ कर्म को अपने, हँस के करो या रो के करो,
सोच-सोच के फल की बाबत, आगे बढ़ने से न डरो ।

इस झूठी दुनिया में मुश्किल सच्चे लोगों का मिलना,
छोड़ो दुनिया के लोगों की, तुम तो सच्चे ही रहना ।

बात पते की कहता हूँ मैं, सुनना चाहे ना सुनना,
दौड़ है अंधी जीवन की पर, खाली हाथ ही तो मरना।

(64)

"शून्य"

हर दिन,
हर पल,
निराशाओं का शून्य
निगल जाता है
मेरी आशा का
इक और सूरज!
और व्यथित सा मेरा मन
उद्विग्न हो,
कल्पना में,
ढूँढता ही रह जाता है
शून्य में
प्रफुल्लता का
एक पल!
और दिन-प्रतिदिन
बढ़ता ही जाता है आकार
इस शून्य का!

और मुझे इन्तज़ार है
उस दिन का
जब लील जायेगा
मुझे ये शून्य्...!
और मेरी आशाएँ-निराशाएँ
इक-दूसरे में विलीन हो
मुक्त कर देंगी मुझे
और मैं स्वछन्द हो
विचरूँगा
शून्य में ही!!

(65)

"एक यथार्थवादी गीत"

कितने करीब जिंदगी के मौत खड़ी है,
फिर भी हरेक शख्स को अपनी ही पड़ी है!

चंद लम्हों की साँसों ने है तूफान उठाया,
हर बात पर बेकार बड़ा शोर मचाया,
हुई चलने की बेला तो खामोश घड़ी है!

तेरी-मेरी करता रहा तमाम उम्र भर,
भरता रहा तिजोरी तमाम उम्र भर,
अंत समय झोली पर खाली ही पड़ी है!

नंगी जलाई लाशें, कफनों का करके सौदा,
अपना है या पराया, कुछ भी न तूने सोचा,
तू भी बनेगा मट्टी, अंजाम यही है!

मालूम है सभी को, इक रोज़ सब को जाना,
दो दिन का दाना-पानी, चंद रोज़ का ठिकाना,
कोई नहीं ये समझा, सच तो यही है!

कितने करीब जिंदगी के मौत खड़ी है,
फिर भी हरेक शख्स को अपनी ही पड़ी है!

(66)

"खामोशी"

क्यों है खामोश आज ये बस्ती?
और आसमान भी
क्यों शोकाकुल है?
ढ़लते सूरज की बेला में
क्यों है आकाश इतना रक्तरंजित?
क्या किसी निरीह के
खून के धब्बे
आसमान को स्याह किये दे रहे हैं?
या फिर,
लाल है आसमान आज इतना
किसी के अरमानों की
जलती चिता की
उठती हुई लपटों से!
लगता है शायद
ख़ुदा और भगवान
लड़ते-लड़ते
दम तोड़ चुके हैं!

और धर्म के ठेकेदार
सेंक रहे हैं हाथ,
उनकी जलती चिताओं से!

(67) जिक्र क्या करूँ!

“अपने-पराए”

जब
विश्वास ही
अपने न हुए
तो
अविशवासों का

(68)

"सडांध"

अपने बदन का मैल तो
मैं साफ कर लूँगा धो कर
अपने सड़े हुए अंग को भी
अलग कर सकता हूँ
अपने शरीर से
पर मस्तिष्क की सडांध
का क्या करूँ??
न तो धो सकता इसे
और न ही यह
किसी आप्रेशन से
अलग हो सकती है
बस इस सडाँध से
मैं कर सकता हूँ
कोरे पन्ने ही
काले-पीले
जिससे तुम्हे
कुछ तो आभास हो
मन की सडांध का!

(69)

"भटकन"

मैं
पथिक था
एक भटका हुआ!
तुमने भी तो
राह न दिखाई मुझे
बस
मेरी अँगुली पकड़ कर
चल दिये मेरे साथ
और
स्वयँ भी भटक गये
मेरी/अपनी/उसकी/सबकी
उलझाई भूल-भुलैया में
तुम्हारी भटकन देख
मैंने तो
राह पा ली
तुम तो भटकते ही रहे
तुम्हे लगी
भटकन ही प्यारी!

(70)

"छलता यथार्थ"

ऐ मौत
तू कहीं
छलावा तो नहीं
जो
जीवन के
हर पल को
अपनी धुंध से घेरे
डराती रहती है

तुझे तो मैंने
एक यथार्थ की
संज्ञा दी थी
परन्तु
यह कैसा यथार्थ है
जो परत-दर-परत
जीवन के
न जाने किन-किन
रहस्यों में छिपा है

जिसे
न मैं देख पाता हूँ
न भोग पाता हूँ
और
न ही महसूस कर पाता हूँ
न जाने कैसा लगेगा
तुझसे मिल कर
नहीं समझ पाता हूँ
परन्तु फिर भी
तेरा छलता यथार्थ
कभी न भूल पाता हूँ!
कभी न भूल पाता हूँ!!

(71)

"एक ही सच"

मुझे आज फिर
उस गली में जाना पड़ा
जो
मौत के शहर की ओर
ले जाती है
इस गली में घुसते ही
हरेक शख्स
खुली आँखों से
बीता और आने वाला कल
साफ-साफ देख पाता है
जिंदगी को नोचते-खसोटते
अपने अंदर के गिद्धों को
आसानी से पहचान जाता है
और सहम जाता है
उनका नंगा नाच देख कर
सब कुछ
बेमानी सा लगने लग जाता है

जीवन का एक ही सच -
मौत -
मन स्वीकारता है
तथा सैंकड़ों-सैंकड़ों
संकल्प कर डालता है
पर यह क्या!
मौत की गली से बाहर आते ही
जीवन की भूल-भुलैया में
मन फिर उलझ जाता है
गिद्धों का नंगा नाच भी
मन को अति भाता है
और भटक जाता है
टेढ़े-मेढ़े रास्तों में फिर से
भूल जाता है एक ही सच
जो तभी याद आता है
जब आदमी फिर से
उसी रास्ते पर जाता है
जो
मौत के शहर की ओर
ले जाता है!

(72)

"मौन ही रहने दो"

मेरे मौन का कारण
मुझसे मत पूछो
चुप ही रहने दो मुझे
आभार होगा तुम्हारा
मेरे मौन का बोझ ही
यदि तुम सह नहीं पाते
तो मौन टूटने पर
क्या होगा तुम्हारा
समझ नहीं पाता हूँ मैं!
एक लावा सा बह रहा है
इस मौन रूपी पहाड़ के नीचे
फट गया तो
इसकी तपिश ले डूबेगी
तुम्हे भी
मुझे भी
और निर्दोष उन व्यक्तियों को भी
जिनका इस मौन से

कोई वास्ता ही नहीं
इसलिये
एक एहसान करो
मुझ पर
स्वयँ पर
इस समाज पर
कि चुप ही रहने दो मुझे
यदि समझ पाओ तो
मौन की भाषा ही समझ लो!

(73)

"अपना-अपना वृत "

मत झृंकत करो
मेरे हृदय के तार
वर्ना एक और तार
टूट कर
अलापने लगेगा
एक बेसुरा राग!
जो शायद
तुम्हे अच्छा न लगे!!
मत छेड़ो इसके
दर्दीले फफोले
वर्ना
ये फूट कर
फैलाने लगेगें
बदबूदार मवाद!
और तुम
सिकोड़ने लगोगे
नाक-भौं अपनी!!

तुम तो
हवा में तैरते ही
अच्छे लगते हो
मेरी दुनिया में
भला तुम्हारा क्या काम
यहाँ तुम्हे
दुर्गंधित लगेगा
सुगन्धित वातावरण भी!
और हमें
तुम्हारी सुगन्ध से भी
आयेगी दुर्गंध

बनावट की,
झूठ की,
घपलों की,
और
रिश्वतों की!!
तो क्यों नहीं
पड़े रहने देते हमें
अपने ही 'गंदे' नाले में
आओ

हम स्वेच्छा से
समझौता करलें
रहने का
अपने-अपने वृत्त में ही

(74)

"भूत का भविष्य"

आजकल तो वृक्ष भी बोलता है
अपनी छाँव का मोल भी तोलता है
पीला पड़ता मेरे राष्टर का अबोध भविष्य
शैशवास्था में ही प्यासा-नंगा डोलता है
और गली-कूचों पर आदर्शों की होली में
रोज़ एक 'शव' दम तोड़ता है
और जन्म लेता है एक और कंकाल
किसी कूड़े के ढेर पर
या फिर गंदे नाले में
भरे उजाले में भी करता है न्रत्य महाकाल
मेरे भारत के आगे-आगे
'भूत'(काल) का भविष्य दौड़ता है!

(75)

"अंतर"

मायावी रात की चादर
तन-मन के इर्द-गिर्द लपेटे
हर रात
उज्जल सपनों में खो जाता हूँ
न जाने कहाँ-कहाँ भटकता
सुख-निद्रा में सो जाता हूँ
एक यही पल तो मेरे बस में है
जिसे जैसे चाहूँ मोड़ लूँ
कुछ न करके भी
सभी खट्टे-मीठे अंगूर
पल भर में तोड़ लूँ
गहराई रात की लंबी पगडंडी को
साफ-साफ देखते हुए पार कर लेता हूँ तो

दूर कहीं क्षितिज़ में
आशा की एक किरण जो दिखाई देती है
वह मन में ऐसा झंझावात सा लाती है
लगता है सब कुछ एक पल में -
एक क्षण में -
पा लूंगा
मैं सारे पर्वत कर्मयोद्धा की तरह
पलक झपकते ही नेस्तनाबूद कर लूँगा
वही किरण
शनै: शनै: जब
आग का गोला बनने लगती है
मेरी ही आशा की किरण होकर
जब मुझ लीलने लगती है
तो एहसास होता है
अपनी असमर्थता का
दिन के उजाले में

घर-घर में, हर गली में, हर मोड़ पर
सवार्थ-परिता का
जो तांडव होता है
उससे तो यह भास होता है
इन नरभक्षी गिद्धों से अच्छे तो
वो मच्छर ही हैं
जो दंश भी मारते हैं तो
रात की कालिमा में छुप कर
वह भी
अपनी भूख मिटाने को
न केवल रक्त की प्यास बुझाने को
यहाँ तो हर कोई
दिन के उजाले में नंगा ही घूमता है
भूखे को और भूखा करता है
नंगे को और नंगा करता है
अरे अक्ल के दुश्मनों
क्या नोट खाओगे?
क्या सोना चबाओगे?
या ये सब साथ ले जाओगे?
पापी पेट को तो
केवल दो रोटियाँ ही काफी हैं

तन ढांपने को
दो गज़ कपड़ा ही काफी है
क्या यह सब जुटा रहा है
गोदाम-तिजोरियाँ भरने को
या
अंत: स्थल में छुपी
आदिमानव सी क्रूरता दर्शाने को
मुझे तो
तुझ में और आदिमानव में
केवल एक ही अंतर दिखाई पड़ता है
उसके पास हथियार थे
तेरे पास दूषित दिमाग
तभी तो हर तरफ लगी है
न बुझने वाली
एक प्यासी आग!

(76)

"बस मैं ही!"

मय की लत लगाई थी
कि
कोई साकी बनेगा
आए थे मयखाने में
कि
कोई साथी बनेगा
कदम रखा जो मयखाने में
तो पाया
मय पीने-पिलाने वाले
बहुत थे
साकी बनने-बनाने वाले
बहुत थे
तरह-तरह की मय
तरह-तरह के साकी
न कोई बेहोश
न किसी को होश बाकी
इस पीने-पिलाने के चक्कर में

न मय ही रही
न मयखाना ही
बस "मैं" ही
सभी की "मैं" ही
रह गई बाकी!

(77)

"पुजारी"

मूर्तियों का पुजारी रहा हूँ,
क्योंकि,
मूर्तियाँ बोलती तो नहीं
पर अपशब्द भी तो नहीं कहतीं
इनमें संवेदना का अभाव तो है,
पर ये छल भी तो नहीं करतीं,
इनमें जीवन नहीं
तो मौत का ख़ौफ भी नहीं
इसीलिये,
मूर्तियाँ ही मुझे लुभाती रहीं हैं
भाती रही हैं
यही तो
मेरी सच्ची साथी रहीं हैं!

(78)

"हमें भूल चुका है तू भी!"

हमें तो प्यार की गहराईयाँ ही लें डूबीं,
जग की क्या बात, हमें भूल चुका है तू भी ।

ओस की बूँद गिरी, शाख हरी हो बैठी,
भार इतना ही था, फिर आस मेरी क्यों टूटी?

शाम हँसती रही, करती रही सबसे बातें,
चुप अँधेरे लिये, बस बैठे रहे हमीं यूँ ही ।

खो गया हूँ मैं तेरे तारों में नन्हा तारा,
तेरा आलोक ही इतना था, राह मुझे न सूझी ।

इक किनारा बने तुम, दूजा मेरी अभिलाषा,
पर सहारों की लहरें ही मुझे लें डूबीं ।

(79)

"वादा पक्का मेरा!"

तुझसे वादा निभे न निभे ज़िन्दगी,
मौत, तुझसे है वादा पक्का मेरा ।

दोस्त न हो, न हो कोई भी हमसफर,
कट जायेगा सफर रफ्ता-रफ्ता मेरा ।

न हँसो तुम हमार लिये, न सही,
तुमको खलता है क्यों पर हँसना मेरा ।

शाम ढलती रही, सुबह होती रही,
वक्त कटता रहा यूँ ही तन्हा मेरा ।

बात से बात यूँ ही निकलती गई,
तुमसे पहले तो न था रिश्ता मेरा ।

(80)

"फिर भी मैं बहुत अकेला था!"

फूटा था मैं अंकुर बन कर,
एक नवप्रभात की चाह लिये,
धरती के बंधन तोड़ सभी,
स्वच्छन्द विचरण की चाह लिये ।
कुछ-कुछ था भला लगा मुझको,
सूरज की किरणें थीं लगीं भली,
दिन जैसे-जैसे चढ़ता गया,
था लगा कि जैसे आग जली ।
सिर छुपा लिया मैंने डर कर,
अपनी जननी की गोद में था,
जब रात अंधेरी गहराई,
मैं सोया मीठी नींद में था ।
अगले दिन वैसा ही होना था,
कुछ पाना था, कुछ खोना था,

हँसने को, खुशियाँ पाने को,
मुझको थोड़ा तो रोना था ।
मेरी जननी मेरा सम्बल थी,
जड़ को उसने मेरी सींचा था,
पर फैला, आसमान छूना,
मैंने उससे ही सीखा था ।
कद जैसे-जैसे बढ़ता गया,
जड़ गहरी मेरी होती गई,
पर ऊँचाईयों के साथ-साथ,
धरती से दूरी बढ़ती गई ।
इतना ऊँचा, इतना फैला था
व्रक्ष मेरी आकांक्षा का,
सब पाने को स्वयँ भार से ही,
था झुका लिया सबसे नीचा ।
कुछ सत्य-बोध, कुछ ज्ञान-बोध,
भीतर ही भीतर मैं टूटा था,
था जुड़ा अभी तक जिससे मैं,
सब नकली था, सब झूठा था ।
जीवन की अंधी दौड़ में,
मैंने मुझको ही जकड़ा था,

इस भीड़-भाड़ के दौर में,
अपना ही पथ मैं भटका था ।
उठते-गिरते, रुकते-चलते,
मैं उस पड़ाव पर पहुँचा था,
सब अपना था, सब मेरा था,
फिर भी मैं बहुत अकेला था ।

(81)

"क्या करूँ?"

मैं
अपनी भूल पर
इतराऊँ
या
आँसू बहाऊँ
समझ नहीं पाऊँ
यदि
मैं भूल नहीं करता
तो
तुम्हारी प्रव्रति
कैसे पहचान पाता
यही सोच
मन है इतराता
परन्तु
समय रहते

तुम्हे न जान पाने के
पश्चाताप का एक कतरा
साथ ही
आँख से
टपक है जाता!

(82)

"अपने-अपने दायरे!"

मैंने तो
दरवाज़ा ही बंद किया था
तुमने तो
दस्तक भी न दी
तुम सोचते रहे
मैं दरवाज़ा खोल दूँगा
मुझे लगता रहा
तुम दस्तक दोगे ही
इसी उधेड़बुन में
मैं इधर
तुम उधर
अपने-अपने दायरे में बद
खड़े ही रहे!
खड़े ही रहे!!

(83)

"गीत" –
"नारे कई बुलंद हों"

धरती की वादियों में नारे कई बुलंद हों,
ऐसी लगा अग्न चारों दिशा प्रचंड हो!

हिम्मत जो न तू हारे, खुद रास्ते नमन हों,
उजड़े हुए गुलिस्तां चुटकियों में चमन हों!
ऐसी लगा अग्न चारों दिशा प्रचंड हो!

नदियाँ अपना रास्ता खुद ही बनाये जाती हैं,
पहाड़ हो या पेड़ हो, सबको मिटाये जाती हैं!
ऐसी लगा अग्न चारों दिशा प्रचंड हो!

मन हार के न हार तू जिंदगी की भावना,
मोड़ अपने रास्ते, तू पूरी करले कामना!
ऐसी लगा अग्न चारों दिशा प्रचंड हो!

चल उठ बुला रही हैं तुझको जिंदगी की वादियां,
चाहे हंसी, चाहे कठिन, बना इन पे अपना हाशिया!
ऐसी लगा अग्न चारों दिशा प्रचंड हो!

(84)

"बुरा क्यों कर कहें ऐसे ख़ारों को?"

सहेज़ दामन में रखें गुलों को जो,
बुरा क्यों कर कहें ऐसे ख़ारों को?

जल जाये जिससे आशियाँ कोई,
न बुलाओ कोई ऐसी बहारों को ।

कोई हम पर भी फूल चढ़ाये गा,
अब भी उम्मीद है बिसरे मज़ारों को ।

हम भी गिर-गिर के संभले कई मानिंद,
नाउम्मीद न हो, कहो बेसहारों को ।

कभी जानी न हो कीमत इन्साँ की,
क्या मिलेगा ख़ुदा उन बेचारों को?

कभी ख़ुद को मिटा कर देखो तो,
ख़ुद आयेगी शर्म सितमगारों को ।

दिलों पर कभी तो रंग चढ़ायें गें,
खूँ के कतरों से लिखा है मैंने शेरों को ।

(85)

"मैं आऊँगा एक बार फिर"

मोम की भाँति पिघलता रहा
पग-पग पर चुपचाप जलता रहा
और
अंधेरों को रौशन करता रहा
तुम चाहोगे,
तो भी मिटा ना पाओगे निशां मेरा
जमी हुई मोम खुरचने पर भी
जब दिखेगा आकार मेरा
तो कहो,
कहीं न कहीं तो आएगा विचार मेरा!
पतझड़ आना तो कुदरत का नियम है -
या कहो यह एक नियामत है -
पतझड़ में सूखे पत्ते की मानिंद
बेशक उड़ जाऊँगा,
ओझल हो जाऊँगा

पर एक दिन
मिटटी में मिलकर
मिटटी हो कर भी
तुम्हारे ही संस्कार रुपी पेड़ से
कपोल बन फूटूँगा फिर एक दिन
तो तुम्हे मेरा स्वरूप
क्या फिर याद न आयेगा
मैं तो यूँ ही बार-बार मिट कर भी
आऊँगा बार-बार
मैं आऊँगा एक बार फिर!
मैं आऊँगा एक बार फिर!!

(86)

"भुलावा"

मेरे अस्तित्व ने
उड़ान भरी
अहँ से
टकरा कर
चूर-चूर हुआ
चलो
एक भुलावा तो
दूर हुआ!

(87)

"अधूरा आदमी"

मैं
एक
अधूरा आदमी हूँ
क्योंकि
जो
मैं अंदर से हूँ
बाहर से नहीं हूँ
अंदर से तो मैं
केवल "मैं" हूँ
पर
बाहर से
हर बात
इक दिखावा है
कभी-कभी
कोशिश तो करता हूँ कि
मैं एक
सम्पूर्ण आदमी बन पाता

पर
मेरे अंदर के "मैं" ने
इस कदर
जकड़ रखा है मुझे
कि
समीकरण बन ही नही पाता
सोचता हूँ
अगर
मेरा अंदर और बाहर
एक हो जाता
तो
कोई तो
सम्पूर्ण व्यक्ति कहलाता!

(88)

"आज का सच"

वैसे तो मुझे
शमशान जाने का कोई शौक नहीं
परन्तु फिर भी कभी कभी
दुनियादारी की खातिर
जब जाना ही पड़ जाता है
तो बोध होता है
वास्तविकता का अपनी -
क्या यही अंत होगा मेरा भी -
सोच
लगने लगता है
सभी कुछ बेमानी
ये मिट्टी, ये पानी
बस
राम नाम सत् है
बाकी सब असत् है
भागम-भाग

दौड़-भाग
झूठ-सच की रेल-पेल
नोंच-खसोट के खेल
कहां जायेगा कोई -
यही तो है सभी बसों का टर्मिनल -
कल्पना में
स्वयँ को
उस लाश की जगह कल्पित कर
रोमांचित हो जाता हूँ मैं
ऐसे ही तो
मेरे सच
मेरे झूठ
मेरे कर्म
स्वजनों-मित्रों के हाथों
(शायद दुश्मनों के भी)
लकड़ियाँ बन
रख दिये जायेंगें
मेरे ऊपर-नीचे
और अग्नि दे दी जायेगी मुझे
और मैं
कुछ कर भी न पाऊँगा

बस आँखें मूंद
यूँ ही जल जाऊँगा
वैसे
ये जिंदा लाश सा शरीर
अब भी क्या कर पाता है
जब कोई इसे
अनदेखी आग से
जला जाता है
और
मेरे आदर्श
मेरे विश्वास
सुलगते हुए
धरे के धरे ही रह जाते हैं
झूठ का सहारा भी
कब तक साथ देगा
झूठ को झूठ जब काटेगा
तो
कोई तीसरा ही झूठ जन्म लेगा
फिर क्या मैं उसे जी पाऊँगा
अपने सामने
अपने ही सच को देख

संकल्प करता हूँ
सच की जिन्दगी जीने का
(शायद हर कोई यही करता है)
परन्तु
यम-द्वार से
बाहर निकलते ही
म्रत्यु-लोक का प्रपंच
फिर से बांध लेता है
उसी दिवास्वपन में
और
हाल ही का यथार्थ-दर्शन
फिर बन जाता है दिवास्वपन

यही तो है आज का सच
कि
झूठ छिपा लेता है सच को
अपने आवरण में
और फिर
झूठ भी
लगने लगता है
सच ही!

(89)

"संशय"

आज जब
आदमकद आईने में
स्वयँ को
निर्वस्त्र देखा मैंने
तो
अपनी वीभत्सता का
आभास हुआ मुझे
इस वीभत्स रूप को
वस्त्रों से ढाँप कर
छुपा तो लूँगा दुनिया से
परन्तु
अपने अंतस से
कैसे छुपा पाऊँगा
नहीं जानता
बस, मन
आशँकित सा
भयभीत सा रहता है

कहीं
ये बाहरी वीभत्सता
मेरे अंतस पर
अधिकार न जमा ले!

(90)

“सिलसिला”

काँटों से
बचने को
पहने था जूते मैं
पर
क्या करूँ
जब जूते ही
काटने लगें मुझे
सो
नंगे पाँव ही चल दिया मैं
इन पथरीले
कंटीले रास्तों पर
और
सहलाता रहा स्वयँ ही
अपने पाँवों के छाले
सहलाने पड़ते हैं
सभी को तो
अपने-अपने पाँवों के छाले

फिर
मैंने ही क्यों
लेना चाहा सहारा
दूसरों की सहानुभूति का
मरहम ग़र कोई
लगा भी दे तो
चुकानी पड़ती है
कीमत उसकी
पाँवों के छाले तो
भर भी जायेंगें
दिल के छाले तो
रिसते ही रहेंगें

रिसते ही रहेंगें
और
मेरे ख़ून में
भर जायेंगें
एक ऐसा ज़हर
जो बना जायेगा
मेरे दिल को
एक ऐसा
ज़हर बुझा नश्तर

जो

दूसरों को
ज़ख्म देता ही रहेगा
देता ही रहेगा
और
यह सिलसिला
चलता ही रहेगा!
चलता ही रहेगा!!

(91)

"मुर्दा बस्ती का गीत!"

हाँ, मैं गाता हूँ
मुर्दा बस्ती के गीत
और कौन गायेगा भला
इनके गीत
भर कर मन में व्यथा
क्या गिद्ध, चील, कौवे, शावक?
या गीदड़ की खाल में भेड़िया?
जो
हर क्षण, हर पल
शवों की राख से
चुनते हैं हडडियाँ
चूसने को
या, नोचते हैं कपड़े
नंगे तन के
किसी बचे हुए
गोश्त के टुकड़े की चाह में
साथ के शमशान में

तांडव करती 'मुक्त' रुहें
हंसती हैं, गाती हैं
इनकी विवशता पर
कम से कम
अब तो नाच सकते हैं,
गा सकते हैं
ऊँची बस्ती वालों की तरह
रात में जश्न मना सकते हैं
यह रुहें प्रसन्न हैं
अपने-से
नर कंकालों का साथ पा
या प्रसन्न हैं जानकर कि
भूमिका निभा रही हैं
इनकी चलती-फिरती लाशें
जो तन नुचवा
मन जला
सब कुछ लुटा
सो जाती हैं मुर्दों की तरह
भोर-सवेरे उठ
अपने इष्ट को

रक्त अर्पण करने की तैयारी में शायद
इनके पास समय कहाँ
अपनी पीड़ा का भी गीत गाने का
तो फिर कौन गायेगा इनके गीत
गिद्ध, चील, कौवे, शावक
या फिर गीदड़ की खाल में भेड़िया
या फिर
मेरे जैसा कोई असहाय, अनजान
हैरान, पशेमान कवि

तुम्ही कहो!

(92)

“क्यों दगा करता है”

कोई
क्यों किसी पर
मरता है
न मिलने पर
क्यों आह भरता है
यह दुनिया वही
बातें वही
धोखे वही
वादे वही
हर कोई
चोट खाये बैठा है
कहीं न कहीं
फिर भी
कोई
क्यों दगा करता है

भरपूर न थी!

(93)

“दो क्षण”

क्यों माँग बैठा
तुमसे
तुम्हारी ज़िंदगी के
दो क्षण
जीने को
क्या अपनी ज़िंदगी

(94)

"पत्थरों का शहर"

मैं
पत्थरों पर
गुलाब उगाने चला था
नहीं मालूम था
गुलाब यहाँ खिलते कहाँ हैं
क्योंकि
ये तो पत्थरों का शहर है
आजकल तो
मिट्टी में भी फूल खिलाना
मुश्किल हो चला है
यहाँ अब
ऐसी मिट्टी मिलती कहाँ है
पेड़ लग भी जाये तो
कांटे ही मिलते हैं
इसलिये
पत्थरों में फूल खिलाने की

कोशिश करने लगा था
और
पत्थर इकट्ठा करने में लग गया
पर ये भी कहाँ मुमकिन था
सब
अपना-अपना पत्थर लिये
एक-दूसरे का
सिर फोड़ने की ताक में
बैठे थे
फिर कहो
कौन यहाँ
फूल खिलायेगा?
ये तो पत्थरों का शहर है!
टुटे हुए
पत्थरों का शहर है!!

(95)

“गीत” -
”तांडवी निशाचरी“

ताण्डवी निशाचरी को हो रहा अर्पण सवेरा !
मेरे घर की चांदनी पर छा गया काला लुटेरा !!

जल रहा है, जल रहा है, आज सब कुछ जल रहा है,
आदमी का खून पी कर आदमी ही पल रहा है,
ज़हर खा कर नफरतों का, खुद ही खुद को डस रहा है,
देख भाई को ही मरता, आज भाई हंस रहा है,
किस की बातों से है बहका, प्रेम ज्योति का चितेरा?

हो गई ओझल दिशाएँ, आज बहकी हैं हवाएँ,
जो कभी होते थे रक्षक, वो ही अब भक्षक कहाएँ,
फूल बन डाली था खिलना, वो ही अब काँटे चुभाएँ,
क्या यही हमने पढ़ा था, मात के टुकड़े बटाएँ?
त्यागमूर्त को सिखाया, आज किसने तेरा-मेरा?

(96)

मेरा शहर

बोलता तो है यह शहर
पर ज़ुबान ज़हरीली है
मुस्कराता तो है हर शख्स
बस निगाह कंटीली है
सांस भी लेते हैं सभी
हवा ही कुछ नशीली है
रोता है हर नुक्कड़, हर गली में
शैशव, जवानी, बुढ़ापा
पर हर राह रंगीली है
धुंआ उगलते घरों की चिमनियाँ भी
अब बंद हो गई हैं
दीवारों की बाहरी छटा तो निराली है -
इस शहर के हर बाशिंदे की मानिंद -
पर अंदर से खोखली हैं
अपना अस्तित्व सिद्ध करने को
हर कोई दूसरे को
अस्तित्वहीन करने की

कोशिशों में लगा है
(अपना अस्तित्व सिद्ध करने को
दूसरे को अस्तित्व हीन करना
क्या आवश्यक है?)
अब तो इस शहर में
कई शहर बस गये हैं -
हर मुहल्ला, मुहल्ले की हर गली,
गली का हर घर,
घर का हर कमरा,
कमरे का हर कोना -
अब एक अलग ही शहर है
मेरा शहर तो अनोखा ही शहर है
यह कई शहरों से मिल कर बना
एक अनोखा शहर है !

(97)

“दूरदर्शिता”

ऐ
मूक अबोध वृक्ष
जो मैं तुझे
अपने रक्त से सीन्चू
तो मुझ पर हैरान मत होना
ना समझना कि मैं बोरा गया हूँ
मत मेरी अक्ल पर तू रोना
मैं तो
केवल
दूरदर्शिता से ही
काम ले रहा हूँ
भविष्य की चिंता करके ही
तुझे अपना खून दे रहा हूँ
क्योंकि
हर दिन,हर पल
आदमी की रक्त पिपासा
बढ़ती ही जा रही है

आदमी का खून ही अब
उसकी खुराक बनती जा रही है
तो कल को
तेरा फल भला कौन खायेगा?
कौन
पत्थर खा कर भी
फल देने वाले के
गुन गायेगा?
मैं तो
तुझे अपना रक्त
केवल इसलिये पिला रहा हूँ
कि कल जब तू
रक्त से लबालब फल देगा
तो कम से कम
इस धरती के आदमी की
रक्त पिपासा तो शांत करेगा !
तब अपनी प्यास बुझाने को
वह, तू, मैं
और समाज का हर आदमी
इन्सानियत का
खून तो नहीं करेगा !!

(98)

"बंधु"

तिमिर, तुम ही तो हो बंधु मेरे !
है वक्ष तेरा इतना विशाल,
बन गया वेदना का दुशाल,
सुख निंद्रा में जब जग सोया
तू ही मेरे संग रोया,
तिमिर, तुम ही तो हो बंधु मेरे !

मन की कुण्ठा मन ही जाने,
कोई जाने तो भी क्यों माने,
मेरे उर में था जो अंधकार,
तुमने ही उससे किया प्यार,
तिमिर, तुम ही तो हो बंधु मेरे

(99)

"अपनी ही चुभन"

कुत्तों की भाँति
दूसरों की
हडिडयाँ चूसते-चूसते
जब
शर्म सी आने लगी
तो
पसलियों में सिर छुपा
अपनी ही हडिडयाँ
चूस-चूस कर
अपनी पिपासा
शांत करने में लग गया
पर
ये दधिची की
हडिडयाँ तो नहीं थीं

जिन्होने
पर-उपकार हेतु
बलिदान दिया था
ये तो
दूसरों की हडिडयों के
चूरमे से बनी थीं
सो
कड़कड़ा गईं
कब तक साथ देता
उनका बनावटीपन
वो दिखाबटीपन
सो पैनी हो
मुझे ही चुभने लगीं
अवश हो
मुझे
यह चुभन
सहनी ही है
आखिर
ये बनावट
ये दिखावट

ये पैनापन
मेरा ही तो दिया हुआ है
अत:
मुझे ही तो सहना है!
मुझे ही सहना है!!

कवि परिचय

कवि का जन्म दिल्ली में 1952 में हुआ था । कविता लिखने का शौक बचपन से ही रहा है, शायद 14-15 वर्ष की उम्र से ही। दिल्ली से विज्ञान में स्नातक तक की पढाई करने के बाद आपने अपनी कविता में निखार लाने के लिए हिंदी में एमए.. किया और फिर पी.एच.डी. की डिग्री प्राप्त की। 1972 में सरकारी नौकरी शुरु करके 2012 में

निदेशक के पद से सेवानिवृत हुए। इस बीच अनेकों कविताओं की रचना की, जिन्हें इनकेब्लागों **https://anilchadah.blogspot.com**, **https://anubhutiyan.blogspot.in** पर पढ़ा जा सकता है। इनकी रचनायें साहित्यकुञ्ज, शब्दकार एवं हिन्दयुग्म जैसी ई-पत्रिकाओं के अतिरिक्त सरिता, मुक्त, इत्यादि पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रही हैं । हिंदी को लोकप्रिय बनाने के लिये और उन साहित्यकारों को, जो साहित्यरचना में योगदान करने के बावजूद अनजान ही रह जाते हैं, एक मंच देने के लिये वह एक हिंदी वेबपत्रिका **साहित्यासुधा** प्रकाशित कर रहे हैं।